युगीन यथार्थ के आईने में दलित साहित्य

संदर्भ : प्रेमचंद

डॉ. राम आह्लाद चौधरी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग एवं सीनेट सदस्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्रिंसिपल इन्वेस्टिगेटर, मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट, यूजीसी

अत्याचार के विरुद्ध ऐतिहासिक जीत के बिना दलित साहित्य का शुद्धतम स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता है। प्रेमचंद ने अत्याचार को सामाजिक यथार्थ के रूप में देखा था तथा उस अत्याचार की ऐतिहासिक प्रक्रिया को उजागर किया था, ताकि वंचित, उत्पीड़ित-दलित की एकजुट लड़ाई कारगर साबित हो सके। इस लड़ाई के बिना आगे बढ़ना मुश्किल है। इस संदर्भ में दलित साहित्य के चिंतक शरण कुमार निंबाले ने लिखा है कि ...मेरा तो मानना है कि हर शोषित को अम्बेडकर को पढ़ना चाहिए और हर दलित को मार्क्स को, तभी मिलकर लड़ाई आगे बढ़ सकती है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी में कथा का उद्‌भव और विकास अपने ढंग से हुआ है। प्रेमचंद ने ग्रामीण संस्कृति और युगीन यथार्थ को आधार बनाया है। आज इस युगीन यथार्थ के समक्ष चुनौती है। चुनौती उस समय भी थी प्रेमचंद ने उसका मुकाबला किया है। इसलिए उनके कथा-साहित्य में क्या नहीं है, उसका कैनवास व्यापक है- गांव का बनिया है, मंदिर का पुजारी है, रामलीला का ठेकेदार है। बहुत सारे लोग उनमें हैं, सिर्फ ग्रामीण जीवन के ही नहीं, शहरों के भी- निम्न मध्यवर्ग के पात्रों से लेकर उसके ऊपरी सिरे तक के पात्र, छात्र और युवा समुदाय, नौकरी के पेशे के भीतर और बाहर के लोग, अधेड़ और बुजुर्ग, असहयोग आंदोलन में साथ देते हुए- मृदुला (जेल), नोहरी (समर यात्रा), जयराम (जुलूस), उससे लाभ उठाते 'चकमा' के सेठ चंदुमल जैसे पात्र, उसे तोड़ने की कोशिश करते मोटेराम शास्त्री (सत्याग्रह) जैसे लोग, फिर इस सामंती व्यवस्था की रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रथाओं की शिकार कुसुम जैसी लड़कियां, आधुनिक सभ्यता के प्रभावों के बीच घिरी मिस जोशी, मिस पद्‌मा, अलग-अलग जाति और धर्मों के लोग-सकीना और हामिद, जेनी और पादरी मोहन दास- सभी इसमें दिखाई देते हैं और प्रेमचंद इन सबको जानते हैं, इनके अड़ोस-पड़ोस से भी परिचित हैं, इनके दोस्तों और दुश्मनों से भी वाकिफ हैं, सिर्फ इन्हें ही नहीं बल्कि इनके पूरे पारिवारिक जीवन को, इनके आस-पास के सम्बन्धों को तथा इनके तमाम सामाजिक अंतर्विरोधों को भी पहचानते हैं। डा. रामविलास शर्मा ने ग्रामीण संस्कृति पर रोशनी डालते हुए लिखा है कि- ग्राम-कथाओं की एक विशेषता और है कि उनमें कथा का काफी प्रसार रहता है। उनमें स्थान, समय और घटना की एकता का प्रसिद्ध यूरोपियन नियम लागू नहीं होता। ग्रामीण श्रोताओं के लिए रस उत्पन्न करनेवाली कहानी काफी लंबी होनी चाहिए वर्ना वह बीरबल का चुटकुला हो जाएगी। प्रेमचंद कभी-कभी चुटकुलेबाजी भी करते हैं, लेकिन कभी-कभी। कुछ पश्चिमी

Scanned with CamScanner

कहानीकारों की नकल करते हुए यहां के लेखक कहानी को ऐसी 'शार्ट स्टोरी' बना देते हैं कि पढ़नेवालों को उसमें आनंद ही नहीं आ पाता। कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दुस्तान में कहानी पश्चिम से आई। 'हितोपदेश' और 'कथा-सरितसागर' के रहते हुए- 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासन-बत्तीसी' का जिक्र न करें तो भी- ऐसा सोचना यूरोप-भक्ति का प्रमाण हो सकता है, वैज्ञानिक विवेचन का नहीं। 'जातकों' और 'पंचतंत्र' के देश को यूरोपवाले कहानी कहना सिखलाने आए। आज बाजारवाद को युग सच के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

बाजारवाद की असंख्य अवधारणाओं को रेखांकित करना संभव है, लेकिन यह बताना कठिन है कि उन अवधारणाओं में से कौन-सी सही या बिल्कुल सही है। बाजारवाद पर विचार करना वाणिज्य से जुड़े लोगों के लिए आसान हो सकता है लेकिन जो वाणिज्य से जुड़े नहीं हैं, उनके लिए बाजारवाद पर विचार करना जटिल है। वैसे उसकी सर्वग्राह्यता सरल होती है। कोई कह सकता है कि बाजारवाद समाज के लिए हितकर है, तथा उसे प्रोत्साहित करना वक्त की मांग है। यह सुनते ही एक दूसरे कोने से एक दूसरी आवाज भी आने लगती है कि बाजारवाद खतरनाक है। इससे परहेज करो, पर उसके मन में मौज करने के प्रति लोभ दिखता है। समाज, संस्कृति और साहित्य में उसके दोनों रूप देखने को मिलते हैं। बाजारवाद पर हमला भी यदा-कदा होता रहता है। इस मामले में दो शिविर देखने को मिलते हैं। दोनों शिविर के अनुभव अलग-अलग हैं। घात-प्रतिघात की प्रक्रिया चलती रहती है।

ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी आगे आकर अपना विचार नहीं व्यक्त करेंगे तो कौन आयेगा! आगे बढ़ने पर उसे दर्शन का जामा पहनाया जाने लगता है। दर्शन के आने के साथ-साथ राजनीति शुरू हो जाती है। ऐसी स्थिति में साहित्य कैसे चुप रहे। विचारों के पुजारी जो विशुद्ध रूप से साहित्य-सेवा में जुटे रहते हैं, उन्हें बाजारवाद के खतरे दिखाई देने लगते हैं। खतरे के उत्पन्न होने के साथ-साथ समाधान जुटाने के चक्कर में कविताओं-कहानियों सहित अन्य विधाओं की रचनाओं में बाजारवाद के विरुद्ध टोटके खोजे जाने लगते हैं। इस प्रक्रिया की गति इन दिनों काफी तेज हुई है।

इन दिनों हिन्दी आलोचना में विधिवत रूप से यह स्थापित किया जा रहा है कि अमुक आलोचक ने हिन्दी आलोचना को बाजारवाद और उपभोक्तावाद की दृष्टि से देखा है और अमुक आलोचक ने उसका विरोध किया है। पर उन दोनों के प्रति उनकी क्या दृष्टि है, इसके सम्बन्ध में ज्यादा चुप्पी ही दिखती है। शायद दृष्टिहीनता ही इस चुप्पी का आधार है। पर कोई बाजारवाद पर चर्चा करने के पहले उसके आधार को देखना और परखना नहीं चाहता, सर्वविदित है कि उसका आधार तर्क पर आधारित नहीं होता। इसे एक व्यवस्था को विकृत करने की प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए। स्वाभाविक है कि उसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव समाज और साहित्य में लक्षित होते हैं। इसके नकारात्मक प्रभावों को सकारात्मकता का जामा पहनाते हुए मानव हित में प्रयुक्त करना इस आलेख का उद्देश्य नहीं है। आम लोगों को हिन्दी आलोचना के जरिये बाजारवाद के नकारात्मक पहलुओं से परिचित करना भी इस आलेख का मकसद नहीं है। मकसद है, तो सिर्फ भारत की आभ्यांतर शक्ति को स्थापित करने का।

साहित्य पर विचार करने वाले समीक्षक या आलोचक ने बाजार को न कभी सर्वशक्तिमान माना और न ही आनेवाले समय में कभी उसे सर्वशक्तिमान मानने के लिए तैयार हैं। वैसे बाजार का भी अपना साहित्य होता है, लेकिन उस साहित्य में रस नहीं होता। साहित्य के पाठक रस के बिना किसी साहित्य को साहित्य कहने के लिए तैयार नहीं होते। पाठकों के समक्ष भारी से भारी समस्याएं होती हैं, उन समस्याओं से मुठभेड़

Scanned with CamScanner

करने की तैयारी करने के लिए वे साहित्य का अध्ययन-मनन नहीं करते। बने-बनाये हथियारों की तलाश करने के मकसद से भी साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि जनता को या शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों से परिचित होने या तत्कालीन युग के साथ उसका सामंजस्य बैठाने के लिए अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। साहित्य-दर्शन और इतिहास पढ़ने-पढ़ाने की इस दृष्टि का आजाद भारत में काफी प्रचार-प्रसार हुआ, क्योंकि उसकी जड़ विधेयवादी दृष्टिकोण में छिपी हुई है, जिसका मुख्य काम है- शासक-वर्ग के कुकर्मों पर पर्दा डालना। यदि किसी ने इस दृष्टिकोण के खिलाफ मुंह खोला तो उसे साहित्य के कूड़ेदान में जाने से न तो कोई अति विप्लवी-क्रांतिकारी नेता बचा सकता है और न ही कोई उत्साही समाजसेवी नेता। जबकि साहित्य को समझने-परखने के लिए जरूरी यह है कि उसके जरिये आम जनता में अलख जगा या नहीं। यदि कोई साहित्य अलख नहीं जगा पाता है, तो यही मानना चाहिए कि वह बाजारवाद की चपेट में आ गया।

स्वतंत्र भारत में गणतंत्र के 60 साल पूरे हुए और धारा प्रवाह इस दिशा में लेखा-जोखा आरंभ हो गया। मोटी-मोटी पुस्तक लिखने वाले प्रणेता तथा दर्जनों-दर्जन पुस्तकों के जनक रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद से आगे नहीं बढ़ पाते। आखिर क्यों? जब-जब यह प्रश्न सामने आता है, तब-तब यही लगता है कि उन दोनों महान लेखकों ने अपने समय की विशृंखलता को नियंत्रित रखने का काम किया। उनकी रचनाओं ने बाजार की मांगों को पूरा करने की सार्थक कोशिश की। साथ ही उन रचनाओं ने समाज पर बाजार को हावी नहीं होने दिया, इसलिए कि उन्हें अच्छी तरह पता था समाज की भलाई के लिए बाजार है, बाजार की भलाई के लिए समाज नहीं है। आज भी पूरे भारत में इन्हीं दोनों महान लेखकों की पुस्तकें सबसे ज्यादा बिकती हैं। यदि मुनाफे के दृष्टिकोण से देखा जाय, तो उनकी किताबें मुनाफा के साथ-साथ प्रसिद्धि देती हैं। जबकि पुस्तक लिखने का कारखाना बैठाने वाले लेखक दो-तीन दिन में किताब लिखते नहीं बल्कि तैयार करते हैं, परन्तु उनकी रचनाओं में वह ताजगी नहीं आ पाती। क्या प्रचार नहीं होता? प्रकाशक, लेखक-आलोचक यहां तक कि पाठक भी प्रचार में कूद जाते हैं लेकिन हाथ में किताब आते ही दम तोड़ देती है। ऐसा क्यों? इस प्रश्न पर सोचे बिना न बाजारवाद की चुनौतियों को समझा जा सकता है और न ही हिन्दी आलोचना की दिशा-दशा को परखा जा सकता है। इस बारे में विभिन्न आलोचकों ने अपने-अपने विचार के अनुसार अपना-अपना उद्‌गार व्यक्त किया है।

भीष्म साहनी ने प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियों की भूमिका में इस ओर ध्यान आकर्षित किया है-" हम किसी लेखक की इस या उस रचना से प्रभावित होकर उसे ऊंचा स्थान नहीं देते, रचनाओं के साथ उस रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व जुड़ा होता है, उसी व्यक्तित्व में से ये रचनाएं जन्म लेती हैं। शायद अंततः किसी लेखक को पढ़ना उसकी आत्मा तक पहुंच पाने की यात्रा ही है। ...जहां उनकी रचनाएं हमारे सामने जीवन का प्रामाणिक जीवंत चित्र प्रस्तुत करती हैं, सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति हमें सचेत करती हैं; वही वे हमारे दिल में सद्‌भाव जगाती हैं, हमारे मस्तिष्क को झकझोरती हैं, हमें जिन्दगी को देखने का नजरिया देती हैं।"। यही नजरिया लेखक को पक्षधर बनाता है. पक्षधर बनने से क्या लाभ है? पक्षधरता ही जनता के संघर्ष को न्याय दिलाती है। कोई दूसरा जनता के पक्ष में मुंह नहीं खोलता। बाजार आम आदमी के लिए नहीं होता, खास आदमी का होता है। खास आदमी बाजार के जरिये आम आदमी के घर की मिठास खींच लेता है, तभी तो गन्ने का दाम घट जाता है और चीनी का दाम बढ़ जाता है। उसे यह भी मालूम होता है कि चीनी का दाम बढ़ने के बावजूद उसे देश के बाजार से निर्यात किया जाता है,

Scanned with CamScanner

ताकि बाजार की शक्ति का अहसास आम आदमी को हो सके। इस अहसास को बड़े पैमाने पर उपस्थित करने के उद्देश्य से समाज में हाहाकार पैदा कर दिया जाता है। सारे स्थापित मूल्यों को तोड़ दिया जाता है। समाज में यदि मूल्य टूटते हैं, तो वह कौन सी शक्ति है, जो समाज को बचा सके। समाज मानवीय मूल्यों के आधार पर आधारित है। सुनियोजित तरीके से आज इसी आधार पर जी-जान से चोट की जा रही है। चोट करने वाले यह साबित कर रहे हैं कि उनसे बड़ा कोई नहीं है। अर्थशास्त्री प्रो. प्रभात पटनायक ने इन्हीं विचारों को सैद्धांतिक जामा पहनाते हुए वर्चस्ववादी सिद्धांत के कई नुकसानदेह पहलुओं का जिक्र किया है। उनके अनुसार, इस सिद्धांत ने लगातार जनतांत्रिक व्यवस्था पर कुठाराघात किया है। कुठाराघात करने के लिए नया-नया तरीका चुन लेना इस सिद्धांत की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी सिलसिले में उन्होंने 'जनतांत्रिक व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्र' शीर्षक लेख में खुलासा किया- '' मुक्त बाजार पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था में ऐसे मालों व सेवाओं तक पहुंच का जो वितरण होता है, जनता के विशाल हिस्सों के लिए उल्लेखनीय हद तक वंचित ही रह जाने के हालात पैदा करता है। ...इस तरह हमारे यहां जो नव-उदारवादी व्यवस्था चल रही है उसके अंतर्गत विभिन्न राज्य सरकारें एक-दूसरे से होड़ करते हुए पूंजीपतियों को रियायतें दे रही हैं ताकि उन्हें अपने राज्य में कारखाने लगाने के लिए आकर्षित कर सकें। जाहिर है कि इससे इजारेदारियों की ताकत और बढ़ती है तथा आय के वितरण की स्थिति बदतर होती है।''2

वैसे साहित्य में अर्थशास्त्र के नियम-कानून नहीं चलते। लेकिन साहित्य की चर्चा करते वक्त अर्थशास्त्र के विद्वानों को बिल्कुल अलग-थलग नहीं रखा जा सकता। जब बाजार की सर्वशक्तिमत्ता पर चर्चा करनी होगी तब किसी कृति की भाषिक समीक्षा से बात नहीं बन पाती है।

इस सिलसिले में कुंवर नारायण ने अपनी 'आज और आज से पहले' नामक पुस्तक की भूमिका पर बड़ी गंभीरता से विचार करते हुए बताया-'' दूसरी ओर यह सावधानी भी जरूरी है कि साहित्य धीरे-धीरे भाषायी अध्ययन की सामग्री मात्र न होकर रह जाए, इसके लिए भाषा विज्ञान की अपेक्षा इतिहास, नीतिशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र जैसे विषयों के ज्यादा निकट जाना चाहिए।''3 और जब साहित्य को इन विषयों के निकट ले जाने का प्रयास किया जाता है, तब एक भयानक संकट दिखता है। इस संकट को समीक्षा का संकट कहा जा सकता है। इसके पीछे चाहे जो कारण हो, लेकिन उस पर नजर डालना जरूरी है, क्योंकि यह संकट सिर्फ बाजार के कारण पैदा नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपभोक्तावाद या बाजारवाद ने संकट पैदा किया है। जैसा कि इसी भूमिका में उन्होंने लिखा है- ''दरअसल, संकट आज रचना का उतना नहीं जितना समीक्षा का है। समीक्षा की दुनिया सिद्धांतों और विचारों की है जिनके सहारे वह एक साहित्यिक कृति का आकलन करती है, जबकि रचनात्मक साहित्य स्वभावत: जीवन-परक हुए बिना अपनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता सिद्ध नहीं कर सकता। समीक्षा जब भी यह विवेक खो देगी कि एक साहित्यिक रचना सबसे पहले एक कलाकृति है, महज एक कार्यक्रम नहीं, समीक्षा की अपनी साख कमजोर पड़ जायेगी।'' हिन्दी आलोचना की साख कमजोर नहीं हुई। वैसे कुछ आलोचकों का कहना है कि हिन्दी आलोचना की धार और धारा को और सशक्त होने की जरूरत है। लेकिन हिन्दी आलोचना के जरिये ही सारी महत्वाकांक्षाएं पूरी नहीं हो पायेंगी।

स्वतंत्र भारत में हिन्दी आलोचना की दिशा और दशा निश्चित तौर पर परतंत्र या ब्रिटिश भारत से अच्छी रही है। बावजूद इसके, जब कोई नया व्यक्ति आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तब उसे यही लगता

Scanned with CamScanner

है कि उसने कुछ गलत फैसला ले लिया। मठाधीश उस पर आरोप लगाते हैं। समीक्षा करने का पर्याय बेगार बन जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अभी तक साहित्य-समीक्षा को जिस तरह विकसित होना चाहिए। वैसा विकास आलोचना क्षेत्र में नहीं हो पाया। ऊपर से तकनीकी आतंक आ गया। इसलिए तरह-तरह की समस्याएं उठने लगी हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए न बाजारवाद के पास समय है और न धैर्य। यह काम हिन्दी आलोचना खुद करेगी यानी वह चलते-चलते राह बनाती है। इस दिशा में हिन्दी आलोचना काफी सक्रिय है। इस बारे में प्रताप सहगल ने 'समय के सवाल' पुस्तक में आजादी के बाद हिन्दी साहित्य नामक लेख में लिखा-"...मीडिया के इस युग में शब्द मर रहा है, लेकिन सच यह है कि हम चाहे किसी भी साहित्यिक विधा को लें, हर विधा ने उत्तरोत्तर विकास किया है। कुछ लोगों के लिए समय किसी बिन्दु पर ठहर जाता है और उन्हें उस बिन्दु के बाद न तो साहित्य नजर आता है और न ही कोई लेखक।"5 हिन्दी आलोचना बाजारवाद की इस चुनौती के बावजूद ठहरी नहीं है बल्कि उसके नकारात्मक पहलुओं को धीरे-धीरे उजागर कर रही है।

समय के साथ-साथ समाज की अग्रगति जारी रहती है। हालांकि उस अग्रगति की व्याख्या करने वाले अपने-अपने ढंग से अपना-अपना विचार रखते हैं। कोई इस अग्रगति को परंपरा से जोड़कर देखता, तो कोई उसे सिर्फ नये रूप में देखने का प्रयास करता है। पर ऐसे तमाम आलोचकों की एक ही चिंता होती है कि समय, समाज और साहित्य का सही विश्लेषण हो सके। इसी संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना की खास दो धाराएं हैं, जिन्हें मोटे तौर पर देखा जा सकता है- पहली धारा को अतीत की शास्त्रीय परम्परा से जोड़ा जा सकता है जबकि दूसरी धारा पश्चिम की परम्परा कही जा सकती है। लेकिन दोनों धाराएं हिन्दी साहित्य की आलोचना में इस तरह रच-बस गयीं कि कोई यह नहीं कह सकता कि उन धाराओं का हिन्दी आलोचना से वास्ता नहीं है। विचारों की दुनिया में बहस की राह ही एकमात्र ऐसी राह है, जिस पर चलते हुए आलोचना को एक खास दृष्टि के रूप में आजमाया जाता है क्योंकि अलग-अलग लेखकों-रचनाकर्मियों की दृष्टि एक नहीं हो सकती।

दृष्टि का मतलब यह है कि रचनाकार अपने युग की सच्चाइयों को किस रूप में देखते हैं तथा उनके नजरिये से समाज, संस्कृति और साहित्य को क्या-क्या लाभ पहुंचता है, यही खासकर किसी आलोचना में देखने की कोशिश की जाती है। सच तो यह है कि पाठक रचना की जटिलता में आनंद का आस्वाद करना चाहते हैं, जैसाकि रमेश दवे ने 'आलोचना समय और साहित्य', नामक पुस्तक में पूर्वालोचन शीर्षक से लिखा है-"सृजन चाहे जायसी, तुलसी, सूर, कबीर का हो या निराला, अज्ञेय से लेकर हिन्दी के किसी युवतम कवि का, कथाकार या उपन्यासकार प्रेमचंद या जैनेन्द्र का हो, या ऐतिहासिक से लेकर आज के नवीन प्रयोगशील कथाकारों तक का, वह अपनी भाषा अपने शिल्प, अपने विचार और अपनी अनुभूति की गहनता में कभी सरल नहीं होता। पाठक उसकी जटिलता में ही आनंद लेता है और उस जटिलता को अपने आनंद या सौन्दर्य-बोध के अनुरूप बना लेने से संतुष्ट होता है। भाषा-विज्ञान पढ़ने वाले, भाषा-विज्ञान की भाषा से उलझते हैं, विज्ञान पढ़ने वाले विज्ञान की भाषा से टकराते रहते हैं, दर्शन पढ़ने वाले तो दर्शन की भाषा में डूब-डूब जाते हैं, फिर ऐसा क्यों है कि साहित्य की भाषा से साहित्य का पाठक उलझना, टकराना या उसमें डूबना नहीं चाहता?"6 यह बिल्कुल सही नहीं है कि साहित्य का पाठक आलोचना या रचना की भाषा से नहीं टकराता है, लेकिन उसकी पहली पसंद सृजन की शक्ति की पहचान करने पर सबसे ज्यादा है।

Scanned with CamScanner

सृजन की शक्ति को स्थापित करना आलोचना की सबसे बड़ी खासियत होती है। इस खासियत को बाजारवाद चाहकर भी खत्म नहीं कर सकता। बाजार में सृजन की उतनी शक्ति नहीं होती, जितनी शक्ति आलोचना में होती है। बाज़ार में विनिमय सबसे ज्यादा होता है, जबकि आलोचना विचारों को समयानुकूल परखती है तथा समय को वाणी देती है। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। कुछ आलोचकों या समय के विश्लेषकों का कहना है कि आज साहित्य बाजारवाद का पिछलग्गू बन गया है। जुगाड़ लगाकर साहित्य की बिक्री बढ़ायी जाती है। बिक्री बढ़ायी जा सकती है, लेकिन उस बिक्री को स्थायी नहीं बनाया जा सकता।

साहित्य का प्रचार तभी होगा जब मूल्यों को स्थापित करने का जोखिम उठाया गया हो यानी एक नया समाज या एक नया मानव गढ़ने वाली रचना ही समाज को प्रभावित करती है। यह वस्तुत: गढ़ने की शक्ति है, जिसकी पहचान केवल आलोचना के जरिये संभव है। इस प्रक्रिया को गति देने के लिए विभिन्न तरह के रास्ते अपनाये जाते हैं। कई तरह की टिप्पणियां भी आती रहती हैं। पर यह कहना ही पड़ेगा कि आलोचना ही किसी रचना को सार्थकता का जामा पहनाती है। इस बारे में रमेश दवे का मानना है- '' आलोचना का सौन्दर्य है सृजन की शक्ति की पहचान में। इसलिए यदि वह समयबद्ध है तो भी समय-मुक्त है और समय-मुक्त है तो भी समयबद्ध। क्योंकि उसे तो दोनों ही तरह से साहित्य में प्रवेश करना होता है। आलोचना स्वयं समय भी है। वह होती है तो लगता है कि सृजन है, वह नहीं होती तो सृजन आभाहीन हो जाता है। आलोचना-समय आलोचना के लिए कोई तत्त्व माना जाए या न माना जाए- लेकिन इतना अवश्य मानना होगा कि आलोचना समूचे साहित्य का ऐसा मानस-समय है जब साहित्य आलोचना में उतर कर सार्थक हो जाता है।''7 यह सार्थकता मानव गढ़ने में छिपी रहती है। इसलिए कि हर रचना अपने समय में एक विकल्प की तलाश करती है। यही विकल्प मानव सभ्यता को आगे ले जाता है।

जब समाज में चारों ओर हिंसा-अराजकता-संत्रास व्याप्त होने लगता है तब मानव सभ्यता बाजार के भीतर जाकर सुकून नहीं खोजती; वह उसके विकल्प की तलाश में शांति खोजने का कार्य सम्पन्न करती है। इसके लिए उसे मुठभेड़ करना पड़ता है। यही कारण है कि विचार मानव में अपराध की तरह नहीं आता। वैसे विश्व के कई आलोचकों ने यह कहने की कोशिश की है कि विचार मनुष्य में अपराध की तरह आता है। यदि अपराध की तरह विचार मानव या मानव-समाज में आता है, तो इससे खराब और क्या हो सकता है ? पूरा समाज ही अपराधी बन जायेगा। इस समाज में ईर्ष्या-द्वेष और लोभ-लालच काफी बढ़ गया। यह मानव की प्रवृत्ति है। इसके बिना समाज चल भी नहीं पाता। जिस तरह कोई नाटक तब तक प्रभावशाली नहीं बन पाता, जब तक कि उसका खलनायक हर दृष्टि से मजबूत न हो। कवि धूमिल ने एक जगह कहा कि खलनायक की मजबूती पर काव्य या महाकाव्य की सफलता और सार्थकता निर्भर है; पर यह कहना पड़ेगा कि उसका मनुष्यत्व जाग्रत नहीं हो पाया। इसलिए वह खलनायक है और जिसका मनुष्यत्व जाग्रत हो पाता है; उसका प्रभाव समाज पर पड़ने लगता है और वह नायक बन जाता है। कालांतर में लोगों ने मनुष्य को अवतरण नहीं माना;मनुष्य एक कृति है। रमेश दवे के अनुसार- ''मनुष्य अवतरण नहीं बल्कि कृति है, और कृति भी आशय-युक्त है। वह सत्य के सौन्दर्य को भी समझता है और असत्य की वीभत्सता को भी। उसे प्रज्ञा-पशु भी कहा गया है, क्योंकि वह अपनी प्रवृत्तियों में जितना पशु है यदि वह प्रज्ञा-रहित होता, तो सम्भवतया मनुष्य शब्द निरर्थक हो जाता। पशु का कोई प्रज्ञा-लोक नहीं होता, इसलिए वह अपनी हिंसा और अपने प्रेम दोनों के ही विकल्प नहीं खोजता। वह प्रेम भी पशु से करता है

Scanned with CamScanner

और हिंसा भी पशु के प्रति ही करता है और ये उसके प्रवृत्तिगत तत्व हैं। मनुष्य बहुविकल्पीय प्राणी है। वह एक साथ मनुष्य और पशु दोनों से प्रेम और नफरत कर सकता है।''8 इसकी प्रतिष्ठा तब देखने को मिलती है, जब कोई व्यक्ति या समुदाय शेखी बघारना शुरू कर देता है कि हम से बड़ा कौन है।

इस वैश्वीकरण युग में शेखी बघारने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसका अंजाम खराब हुआ है। लोगों ने वैश्वीकरण के युग में अंग्रेजी के बढ़ने या उसके दबदबे के बढ़ने की बातें कहीं हैं। लेकिन कुंवर नारायण ने इस संदर्भ में कहा-'' हमारे सोचने-विचारने का तरीका भी अब काफी हद तक बहुविषयक और बहु-स्रोतीय हो गया है। कई छोटे देशों ने और अल्प-विदित भाषाओं ने विश्व-स्तर का साहित्य देकर अंतर्राष्ट्रीय मान्यता पाई है। इससे उनमें एक नयी तरह का आत्म विश्वास बढ़ा है। इस अर्थ में संसार के साहित्यिक नक्श में एक बुनियादी अंतर आया है। यह सही है कि इधर दुनिया-भर में अंग्रेजी भाषा का इस्तेमाल बढ़ा है, लेकिन उसी अनुपात में मूल अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव बढ़ गया हो ऐसा नहीं है;क्योंकि अंग्रेजी भाषा के ही माध्यम से दुनिया के अनेक ऐसे साहित्यों ने अपनी विश्वस्तरीय पहचान बनाई है जो अब तक न केवल अपनी ही भाषाओं तक सीमित थे बल्कि उसमें जीवित रह पाने में भी मुश्किल अनुभव कर रहे थे।''9 मनुष्य सपनों के बिना नहीं रह सकता। वह सपना बुनता है। इसमें सफलता-असफलता आती रहती है।

पिछली सदी के संबंध में चाहे जितना कहा जाय कि पिछली सदी थक गयी, उदास हो गयी, लेकिन यह सच है कि इसी सदी ने बाजार को प्रसारित किया। तकनीकी के विकास के साथ-साथ इस सदी ने सूचना प्राद्योगिकी को काफी प्रोत्साहित किया। उसके तरीके पर हजार तरह के सवाल उठाये जाते रहे। इसी सिलसिले में मीडिया की बात सामने आती है। उस पर कई तरह की लांछनाएं लगायी जाती हैं; लेकिन सच है कि जनमत तैयार करने में उसकी भूमिका है। उसकी भूमिका को दरकिनार नहीं किया जा सकता बल्कि उसकी दिशा को बदलने के लिए दबाव दिया जा सकता है। इस संदर्भ में कुंवर नारायण ने एक सवाल पैदा किया है कि क्या मीडिया द्वारा प्रस्तुत बिम्ब या ध्वनि सिर्फ प्राणदायक है या प्राणलेवा? उनके शब्दों में:- ''आज मीडिया ने, प्रचार-प्रसार की तकनीकी में असाधारण वृद्धि ने, हमारे जीवन को बिंबों और ध्वनियों से भर दिया है, और शब्दों को मानो एक किनारे ढकेल दिया है। विचार उठता है कि बिंबों और ध्वनियों की यह भरमार प्राणदायक भी है और प्राण-लेवा भी?''10

यह भी कहा जाता है कि बाजार ने मीडिया के जरिये बिंबों और ध्वनियों की पवित्रता को दूषित कर दिया है। चारों ओर दूषित वातावरण तैयार हो रहा है, उसकी सघनता बढ़ती चली जा रही है और लोग संवेदनहीन बनते चले जा रहे हैं। इसी को बाजारवाद की उपज माना जाता है। ऐसी स्थिति में संकट पैदा होना स्वाभाविक है। इसकी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए यह कहना होगा कि जब तक आलोचना को और दायित्वशील नहीं बनाया जाता, तब तक सही अर्थों में संवेदनशीलता की रक्षा भी नहीं की जा सकती। जाहिर है कि आलोचना गुण है। इस गुण को बाजार में बेचा नहीं जा सकता और न खरीदा जा सकता है; बल्कि उसकी रक्षा करने के लिए शंखनाद करना होगा,तभी जाकर इस दूषित वातावरण को बदला जा सकता है। रमेश दवे के अनुसार- ''सृजन यदि सौन्दर्य है तो आलोचना गुण है और जब भाषा गुणात्मकता ग्रहण कर लेती है, तो सृजन का भी सौष्ठव बढ़ जाता है। आलोचना को अपने इस पक्ष के प्रति अभी अधिक दायित्ववान होना होगा।''11 यह भी कहा जाता कि भाषा के उत्कर्ष का प्रतीक सृजन है। इस उत्कर्षता पर चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है- ''सृजन भाषा के उत्कर्ष का प्रतीक होता है। भाषा सृजनवती

Scanned with CamScanner

होकर जीवनवती और संवेदनवती होती है। संवेदन, सृजन में भाषा की भाव-संज्ञा है और संरचना के रूप-संज्ञा। सृजन रूपसंज्ञा और भावसंज्ञा का आनंददायी सामंजस्य करता है।''12

इस उत्कर्ष को आलोचक मुक्तिवोध ने यथार्थवादी नजरिये से देखा है। उन्होंने कलात्मक श्रेष्ठता का सवाल उठाते हुए लिखा है- ''समाज के विकास के साथ मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समृद्धि, आंतरिक तथा वाह्य स्वाधीनता, और अधिक मानवीय दृष्टिकोण का विकास होता जाता है। मनुष्य की आंतरिक तथा वाह्य समृद्धि वढ़ती चलती है। अत: साहित्य में प्रतिष्ठित मानव-स्वस्थ के तत्वों की दृष्टि से पश्चात्कालीन विकास-युग का साहित्य पूवकालान विकास युग क साहत्य स श्रष्ठतर हाना आनवाय ह। रहा कलात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न। इसका उत्तर यह है कि यह उत्कृष्टता वहुत कुछ परम्परा पर निर्भर है। अर्थात् जिस युग में साहित्य एक नवीन अ-पूर्व निश्चित दिशा की ओर मुड़ता है, वहां किसी पूर्वकालीन परंपरा का आसरा न होने के कारण उसे प्रयोगावस्था से गुजरना पड़ता है। निस्संदेह प्रयोगावस्था के इस साहित्य में, कलात्मक दृष्टि से, कई अक्षम्य त्रुटियां भी होंगी। किन्तु परम्परा का विकास हो जाने पर उसी के श्रेष्ठता के दर्शन होंगे। पूर्वकालीन विकास-युग की कला की पश्चात-कालीन विकास-युग की कला से, कला की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से तुलना करना वेकार है। वैदिक साहित्य के कविमनीषी कालिदास, तुलसी और महादेवी की परस्पर तुलना करना, साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से, मुखौटापूर्ण है।''13

आलोचना में उत्कर्ष का महत्व है। यदि आलोचना घटिया हो गयी, तो सृजन बिल्कुल बेकार हो जाता है। इसके बेकार होने से समाज में मूल्य स्थापित नहीं हो पाते। इस स्थापना के लिए आलोचकों को भयानक संघर्ष की राह पर चलना पड़ता है। उसमें भी जव वित्तीय पूंजी का नंगा नाच चारों ओर चलता हो। आज दम पंजी के जरिये वाजार में वर्चस्ववादी शक्तियों ने न केवल अपना एक माल पार दिया बल्कि पाप: हर घर की पसंद को भी वदल दिया। ऐसी स्थिति में वाजारवाद की चुनौतियों का सामना करना कठिन हो गया है। लेकिन पूरे धैर्य के साथ आगे बढ़ना होगा तथा उपभोक्तावाद के विरुद्ध संघर्ष को नयी दिशा देने के लिए न केवल साम्राज्यवादियों की नयी रणनीति से परिचित होना होगा बल्कि साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के विरुद्ध जन आंदोलन को प्रसारित करने के लिए मजदूरवर्ग सहित मेहनतकशों की समस्याओं पर गंभीरता से विचार करना होगा, जो आज समाज में नहीं हो पा रहा है।

हिन्दी आलोचना के अंतर्गत भी संघर्षशील लोगों की समस्याओं का जिक्र नहीं किया जाता;जिस आलोचना की वुनियाद किसानों के संघर्ष से आरंभ हुई थी, आज उन्हीं किसानों के प्रति हिन्दी आलोचना के उस्ताद वेखवर हैं। कृषि जगत में समस्याएं क्यों वढ़ रही हैं? किसानों की समस्याओं के संबंध में प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में सवसे अधिक जोर दिया, इसलिए उन्होंने इस उपन्यास में जमीन की समस्या, लगान घटाने और खेतिहर मजदूरों-गरीव किसानों की जमीन समस्याओं को रेखांकित किया है। पराधीन भारत में शासकवर्ग किस तरह गरीबों को धक्का दे रहा था, जिसके विरुद्ध गरीव एकजुट हो रहे थे।

विचार व्यक्त करते हुए रामविलास शर्मा ने बिल्कुल सही लिखा है- '' 'कर्मभूमि' हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-आंदोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास है। यह आंदोलन एक जवरदस्त सैलाव की तरह तमाम जनता को अपने अंदर समेट लेता है। विद्यार्थी, किसान, अछूत, स्त्रियां, शिक्षक, व्यापारी, मजदूर - सभी इसके प्रवाह में आगे बढ़ चलते हैं। 'प्रेमाश्रम' के किसान अव अकेले नहीं हैं। उनकी लड़ाई के साथ तमाम जनता अपनी आजादी की लड़ाई में आगे बढ़ रही है। आंदोलन में जनता से नए नेता पैदा होते हैं।

Scanned with CamScanner

लाठी-चार्ज होते हैं, गोलियां चलती हैं, लेकिन लोग अपनी सफें मजबूत करते हुए आगे बढ़ते हैं।''14 इस 'कर्मभूमि' उपन्यास के सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है- 'कर्मभूमि' उपन्यास सन् 1932-33 के लगभग लिखा गया। इसमें प्रेमचंद फिर सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को अपना विषय बनाते हैं। इसमें न तो 'रंगभूमि' जैसी आदर्शवादिता है और न 'गबन' जैसी विषय की एकाग्रता और समाहार है। परन्तु यह एक बड़ी कृति है जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को नए रूप में रखती है। 'कर्मभूमि' में सामान्य जीवन की धारा व वास्तविकता अधिक है, गांधीवादी प्रभाव कम है।''15

रामविलास शर्मा ने स्वीकार किया कि कर्मभूमि में प्रेमचंद का यथार्थवाद और पुष्ट हुआ है। जिसे नंददुलारे वाजपेयी ने गांधीवाद का प्रभाव कम कहा है, उसी को रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ कहा है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा ने लिखा है- '' 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद का यथार्थवाद और बुलंदी पर पहुंचा है। अमरकांत के चरित्र में उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अद्‌भुत परिचय दिया है। मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर हैं। मुन्नी और अन्य नारी-पात्रों के चित्रण में आमतौर से प्रेमचंद ने एक महान कलाकार की सहृदयता का परिचय दिया है। सुखदा और नैना के त्याग और सच्ची देश-भक्ति के सामने अमरकांत और समरकांत क्षुद्र मालूम होते हैं। सलोनी और उसके गांववाले पाठक की सारी करुणा, सारी सहानुभूति अपनी तरफ खींच लेते हैं। वह सोचता रह जाता है- इनकी तकलीफों का कैसे अंत हो? कौन-सा रास्ता है, जिससे आतंक से इनकी रक्षा होगी? प्रेमचंद उसे यह सोचने पर विवश करते हैं, यह उनकी जबर्दस्त सफलता है।''16

पर कथा-समीक्षक नलिन विलोचन शर्मा ने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कथापरम्परा का जिक्र करते हुए 'कर्मभूमि' के संबंध में कहा- '' 'कर्मभूमि' की परिधि अपेक्षाकृत छोटी है और उसमें हम फिर एक बार मध्यवर्ग की प्रधानता पाते हैं, जैसे 'गोदान' के बाद के और प्रेमचंद के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' में।''17 रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के बारे में बिल्कुल ठीक कहा- '' प्रेमाश्रम' किसान-जीवन का महाकाव्य है। उसमें उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आस-पास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।''18

इसी तरह रामविलास शर्मा ने 'गोदान' के संबंध में अपना मंतव्य दिया। इस मंतव्य को उद्धृत करना आवश्यक है- ''होरी अकेला है तो इसकी जिम्मेदारी ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है। उस समय तक किसान को कर्ज के बोझ से हल्का करने की समस्या किसान-आंदोलन का मुख्य अंग न बन पाई थी। स्वाधीनता-आंदोलन का अर्थ अंग्रेज के झंडे को हिन्दुस्तान के बाहर करना समझा जाता था। प्रेमचंद चाहते थे, अंग्रेज का झंडा बाहर जाए;लेकिन जिस विलायती मशीन के नीचे किसान पिस रहा है, वह मशीन भी बाहर जाए। इसलिए 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' तक उनकी कोशिश यही रही थी कि इस मशीन के तौर-तरीकों को जनता के सामने जाहिर करें जिससे कि झण्डे के साथ वह विलायती शोषण की जड़ भी हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंके।''19 इसी लेख में उन्होंने आगे लिखा- ''और होरी के लड़के गोबर में 'प्रेमाश्रम' के बलराज की-सी दृढ़ता न हो तब भी वह नए जमाने की रोशनी देख चुका है। चाहे गांव में खेती करे, चाहे शहर में मजदूरी, वह दूसरों का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। होरी के मरने के बाद गोबर मानो पिता के हत्यारों के लिए एक चुनौती की तरह जीवित रहता है वह गोबर जिसने-'' राजनीतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं और उनसे अंग-अंग में बिंधा है। उसने सुना है और समझा है

Scanned with CamScanner

लाठी-चार्ज होते हैं, गोलियां चलती हैं, लेकिन लोग अपनी सफें मजबूत करते हुए आगे बढ़ते हैं।''14

इस 'कर्मभूमि' उपन्यास के सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है- 'कर्मभूमि' उपन्यास सन् 1932-33 के लगभग लिखा गया। इसमें प्रेमचंद फिर सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को अपना विषय बनाते हैं। इसमें न तो 'रंगभूमि' जैसी आदर्शवादिता है और न 'गबन' जैसी विषय की एकाग्रता और समाहार है। परन्तु यह एक बड़ी कृति है जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को नए रूप में रखती है। 'कर्मभूमि' में सामान्य जीवन की धारा व वास्तविकता अधिक है, गांधीवादी प्रभाव कम है।''15

रामविलास शर्मा ने स्वीकार किया कि कर्मभूमि में प्रेमचंद का यथार्थवाद और पुष्ट हुआ है। जिसे नंददुलारे वाजपेयी ने गांधीवाद का प्रभाव कम कहा है, उसी को रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ कहा है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा ने लिखा है- '' 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद का यथार्थवाद और बुलंदी पर पहुंचा है। अमरकांत के चरित्र में उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अद्‌भुत परिचय दिया है। मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर हैं। मुन्नी और अन्य नारी-पात्रों के चित्रण में आमतौर से प्रेमचंद ने एक महान कलाकार की सहृदयता का परिचय दिया है। सुखदा और नैना के त्याग और सच्ची देश-भक्ति के सामने अमरकांत और समरकांत क्षुद्र मालूम होते हैं। सलोनी और उसके गांववाले पाठक की सारी करुणा, सारी सहानुभूति अपनी तरफ खींच लेते हैं। वह सोचता रह जाता है- इनकी तकलीफों का कैसे अंत हो? कौन-सा रास्ता है, जिससे आतंक से इनकी रक्षा होगी? प्रेमचंद उसे यह सोचने पर विवश करते हैं, यह उनकी जबर्दस्त सफलता है।''16

पर कथा-समीक्षक नलिन विलोचन शर्मा ने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कथापरम्परा का जिक्र करते हुए 'कर्मभूमि' के संबंध में कहा- '' 'कर्मभूमि' की परिधि अपेक्षाकृत छोटी है और उसमें हम फिर एक बार मध्यवर्ग की प्रधानता पाते हैं, जैसे 'गोदान' के बाद के और प्रेमचंद के अंतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' में।''17 रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के बारे में बिल्कुल ठीक कहा- '' प्रेमाश्रम' किसान-जीवन का महाकाव्य है। उसमें उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आस-पास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।''18

इसी तरह रामविलास शर्मा ने 'गोदान' के संबंध में अपना मंतव्य दिया। इस मंतव्य को उद्धृत करना आवश्यक है- ''होरी अकेला है तो इसकी जिम्मेदारी ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है। उस समय तक किसान को कर्ज के बोझ से हल्का करने की समस्या किसान-आंदोलन का मुख्य अंग न बन पाई थी। स्वाधीनता-आंदोलन का अर्थ अंग्रेज के झंडे को हिन्दुस्तान के बाहर करना समझा जाता था। प्रेमचंद चाहते थे, अंग्रेज का झंडा बाहर जाए;लेकिन जिस विलायती मशीन के नीचे किसान पिस रहा है, वह मशीन भी बाहर जाए। इसलिए 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' तक उनकी कोशिश यही रही थी कि इस मशीन के तौर-तरीकों को जनता के सामने जाहिर करें जिससे कि झण्डे के साथ वह विलायती शोषण की जड़ भी हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंके।''19 इसी लेख में उन्होंने आगे लिखा- '' और होरी के लड़के गोबर में 'प्रेमाश्रम' के बलराज की-सी दृढ़ता न हो तब भी वह नए जमाने की रोशनी देख चुका है। चाहे गांव में खेती करे, चाहे शहर में मजदूरी, वह दूसरों का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। होरी के मरने के बाद गोबर मानो पिता के हत्यारों के लिए एक चुनौती की तरह जीवित रहता है वह गोबर जिसने-'' राजनीतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं और उनसे अंग-अंग में विंधा है। उसने सुना है और समझा है

Scanned with CamScanner

कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा;अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा।''20

भारतीय किसान अपना भाग्य अपने साहस बल से बनाता है। उसके सामने भयानक चुनौतियां होती हैं, उन चुनौतियों का सामना करने में उन्हें हमेशा सफलता मिली है। लेकिन सफलता का स्वाद उसे नहीं मिला। जब विदेशी के झंडे को किसानों ने भारत से बाहर कर दिया। तब उनकी जैसी स्थिति थी, आज उनकी स्थिति और खतरनाक बन गयी है। पिछले 18 सालों में दो लाख से अधिक किसानों ने खुदखुशी की, लेकिन इस पर कौन चर्चा करता है। यदि चर्चा करता भी है, तो उसे विशुद्ध राजनीतिक शिविर में धकेलने का प्रयास किया जाता है। एक भ्रांत और गलत नीतियों के चलते किसान-मजदूरों सहित गरीब लोगों को शिकार होना पड़ता है। इससे बचने के उपाय हैं। उस पर सोचने वालों की कमी है। यथा किसानों की स्थिति को बेहतर बनाने के लिए नीति चाहिए। नीति निर्धारकों का मकसद स्पष्ट हो, जैसा कि 'महंगाई की मार' नामक पुस्तक में जिक्र किया गया है- ''यदि केन्द्र कृषि और किसान के हालात में सुधार लाना चाहता है, तो उसे उद्योग को विकसित करने पर ध्यान देना होगा। जब तक औद्योगिक विकास नहीं होता है, तब तक किसानों और कृषि की उन्नति भी नहीं हो सकती। खाद, पम्पिंग सेट खेत में नहीं बनाये जा सकते, ये कारखाने में ही बनेंगे। इसलिए कारखाना लगाने पर जोर देना होगा। देश में जो चंद खाद के कारखाने हैं, उनकी संख्या बढ़ाने पर जिस तरह से बल देना होगा, उसी तरह खाद की गुणवत्ता बढ़ाने की कोशिश करनी होगी। यदि इस ओर पहल की जाती है, तो सस्ते दाम पर किसानों को खाद उपलब्ध हो सकता है। खेती पर लागत कम हो सकती है। फसलों का उचित दाम निर्धारित करने के संबंध में केन्द्रों को जिस तरह एक ठोस नीति का प्रयोग करना चाहिए, ठीक उसी तरह उसे इसका भी खयाल रखना चाहिए कि कोई किसानों की भलमानसाहत का नाजायज फायदा न उठाये। याद रखना होगा कि कुछ दिनों पहले तक केरल में भी किसान कर्ज लेने के कारण आत्महत्या कर रहे थे। लेकिन इस समस्या को वहां की राज्य सरकार ने गंभीरता से लिया तथा किसान कर्ज राहत कमेटी का गठन किया। उस कमेटी ने इस समस्या का विश्लेषण किया तथा कारगर हस्तक्षेप किया, जिसका अच्छा परिणाम निकला; जब केरल में किसानों की खुदखुशी बंद हो सकती है, तब महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक में किसानों की खुदखुशी क्यों नहीं बंद होगी? यदि उन चार राज्यों में किसानों की खुदखुशी बंद नहीं हो पा रही है, तो सिर्फ नीति के कारण। इसलिए ठोस नीति बनाने के लिए जोरदार आंदोलन संगठित करना होगा, ताकि भारत सरकार इस तरह की नीतियों को बदले, तभी जाकर 21 वीं सदी में भारत के किसान सिर उठाकर आगे बढ़ सकते हैं। किसानों को बचाने से देश की खाद्य-समस्या भी कम हो सकती है। इसके लिए नीति चाहिए। पर केन्द्र खाद्य नीति के प्रति उदासीन है।''21

इस सच को समझना होगा। यह एक युग-सच है। इसके संबंध में मुक्तिबोध ने बिल्कुल सही लिखा है- ''इस युग का अकाट्य सत्य है कि जो व्यक्ति सामाजिक सांस्कृतिक सीढ़ी पर जितना ऊंचा चढ़ता और बढ़ता है वह व्यक्ति अपनी भूमि से अपने ही लोगों से उतना ही दूर, उतना ही अलग, उतना ही भिन्न, उतना ही अन्य, उतना ही अपरिचित, उतना ही अपरिपक्व, उतना ही अजीब और उतना ही अजनबी हो जाता है।''22 आज का दौर ही कुछ ऐसा हो गया है। इस दौर से निकलने के लिए लोग काफी प्रयास कर रहे हैं। लेकिन बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। शायद यह उपभोक्तावाद की माया हो या मीडिया की महिमा इस बारे में यही कहना पड़ता है कि उपभोक्तावाद ने मीडिया की अंगुली पकड़कर युवा पीढ़ी के बीच अपना घर बनाया है। पर ध्यान रखना होगा कि मीडिया उपभोक्तावाद का औजार नहीं है। पर चर्चा इस तरह

Scanned with CamScanner

[illegible]

[illegible] time for the media' में लिखा- "Special mention must be made of the early efforts of veteran journalist Prabash Joshi, who began campaigning Vigorously against the menace as soon as he learned about it during the Lok Sabha elections. Apart from writing articles in newspapers he addresses scores of meetings in northern states before his death on November 5,2009"[23]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

Scanned with CamScanner

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, प्रतिनिधि कहानियां, (भू.) भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, पहला संस्करण 1988, पृ. 6
2. पटनायक प्रभात, (सं.) चौधरी राम आह्लाद, स्वाधीनता, अंक 11 मार्च 2010, जनतांत्रिक व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्र, कोलकाता, पृ. 6
3. नारायण कुंवर, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृ. 14
4. नारायण कुंवर, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृ. 14
5. सहगल प्रताप, समय के सवाल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2005, प्रथम संस्करण, पृ. 103
6. दवे रमेश, आलोचना- समय और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 12
7. दवे रमेश, आलोचना- समय और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 24
8. दवे रमेश, आलोचना- समय और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 31
9. नारायण कुंवर, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृ. 13
10. नारायण कुंवर, आज और आज से पहले, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 1998, पृ. 65
11. दवे रमेश, आलोचना- समय और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 72
12. दवे रमेश, आलोचना- समय और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, पृ. 111
13. जैन नेमिचन्द्र (अंक) मुक्तिबोध भाग-5, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998, पृ. 43-44
14. शर्मा राम विलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, पृ. 81
15. वाजपेयी नन्ददुलारे (सं.) सिंह मुरली मनोहर प्रसाद, सिंह रेखा, प्रेमचंद विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, हिन्दी उपन्यास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, 2006, पृ. 194
16. शर्मा राम विलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, पृ. 95
17. वाजपेयी नन्ददुलारे (सं.) सिंह मुरली मनोहर प्रसाद, सिंह रेखा, प्रेमचंद विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, हिन्दी उपन्यास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, 2006, पृ. 209
18. शर्मा राम विलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, पृ. 45
19. शर्मा राम विलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, पृ. 98
20. शर्मा राम विलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला छात्र संस्करण, 1993, पृ. 108
21. चौधरी राम आह्लाद, महंगाई की मार, राहुल सांस्कृत्यायन अकादमी, रानीगंज, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 39
22. जैन नेमिचन्द्र (सं.), मुक्तिबोध रचनावली- पांच, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980, पृ. 26
23. विश्वनाथन एस, राम एन, द हिन्दू, पैड न्यूज : इट्रोस्पेक्टशन टाइम फार द मीडिया, चेन्नई, 2010, पृ. 11

Scanned with CamScanner